शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

जुलाई : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, अषाढ़ वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : ३

परमात्मा की वाणी और धर्म का क्रम

परमात्मा की वाणी परमात्मा होने के लिये है।

वीतराग की वाणी वीतरागता की ही पोषक होती है; जो राग का पोषण करे, वह वीतराग की वाणी नहीं है।

जिसके देव-गुरु-शास्त्र ही मिथ्या हैं, उसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव की अथवा क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा नहीं होती।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग—यह पाँच बंध के कारण हैं; उन्हें दूर करने का ऐसा क्रम है कि पहले मिथ्यात्व दूर होता है, उसके बाद क्रमशः अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा योग दूर होते हैं। यही धर्म का क्रम है। जो जीव सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपना आदि मानता है, वह धर्म के क्रम को नहीं जानता।

जिसे सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं है, उसे देव की पहिचान नहीं है; वह मोक्षतत्त्व को भी नहीं जानता और न आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही जानता है; ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन या मुनिपना नहीं होता। धर्म के क्रम में सबसे पहले सम्यग्दर्शन है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१५९]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सम्यग्दृष्टि मुक्त ही है

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दृष्टि अंतर के ज्ञानानन्दस्वभाव पर है, क्षणिक रागादि पर उसकी दृष्टि नहीं है। इसप्रकार उसकी दृष्टि में रागदि का अभाव होने से संसार कहाँ रहा ? रागरहित ज्ञानानन्दस्वभाव पर दृष्टि होने से वह मुक्त ही है, उसकी दृष्टि में मुक्ति ही है; मुक्तस्वभाव की दृष्टि में बंधन का अभाव है। स्वभाव की दृष्टि अपने में बंधभाव को स्वीकार नहीं करती, इसलिये स्वभावदृष्टिवंत सम्यक्त्वी मुक्त ही है।

''शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव''

शुद्ध स्वभाव में निश्चल ऐसा ज्ञानी वास्तव में मुक्त ही है।

प्रौढ़ उम्र के गृहस्थों के लिए सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में जैन दर्शन शिक्षण-वर्ग

इस साल प्रथम श्रावण शुक्ला ५ सोमवार ता० २१-७-५८ से लेकर दूसरे श्रावण कृष्णा ९ शनिवार ता० ९-८-५८ तक (-२० दिन तक) श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट की ओर से सोनगढ़ में जैन दर्शन शिक्षण वर्ग चलेगा। तत्त्वज्ञान का प्रारंभिक अभ्यास करनेवाले जिज्ञासुओं को इस वर्ग का शिक्षण बहुत उपयोगी है। वर्ग में सम्मिलित होने के इच्छुक जैन बन्धुओं को अपने आने की अग्रिम सूचना कर देना चाहिये और निश्चित की हुई अवधि के दरमियान आ जाना चाहिए। शिक्षण वर्ग में लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, छहढाला, द्रव्यसंग्रह, जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला का दूसरा तीसरा भाग होगा - अन्य विषय भी होगा।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

जुलाई : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, अषाढ़ वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : ३

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[२९-३०]

तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति

[गतांक नं० १५८ से आगे]

तद्रूपपना और अतद्रूपपना—ऐसे दो विरुद्ध धर्म आत्मा में है; यह बात २८ वीं शक्ति में कही है; अब २९ वीं तथा ३० वीं शक्ति में उन दोनों का कार्य बतलाते हैं। ''तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति है;'' और ''अतद्रूप भवनरूप ऐसो अतत्त्वशक्ति है।'' ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयमेव ऐसी शक्तिवाला है।

भवनरूप अर्थात् रहनेयोग्य अथवा परिणामरूप; ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने चेतनस्वभावरूप रहकर ही परिणमित होता है किन्तु जड़रूप नहीं होता। इसप्रकार चेतनस्वभावरूप रहने की शक्ति, सो तत्त्वशक्ति है, और चेतन मिटकर जड़रूप न होनेरूप शक्ति, वह अतत्त्वशक्ति है। ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में त्रिकाल हैं। आत्मा ज्ञानमात्र है—ऐसा कहने से उसमें इन दोनों शक्तियों का भी समावेश हो जाता है।

आत्मा में अपने ज्ञानादिस्वरूप होने की शक्ति है, किन्तु पररूप होने की शक्ति नहीं है—पर रूप न होने की शक्ति है। और वास्तव में शुद्ध आत्मद्रव्य में तो पुण्य-पापरूप परिणमित होने की भी

शक्ति नहीं है; पुण्य-पाप से अतद्रूप रहने की उसकी शक्ति है। यदि त्रिकाली स्वभाव एकसमय के विकार में तद्रूप हो जाये तो वह विकार दूर हो ही नहीं सकता; अथवा तो विकार दूर होने पर सम्पूर्ण स्वभाव का ही नाश हो जायेगा; इसलिये त्रिकाली शुद्ध स्वभाव की विकार के साथ तद्रूपता नहीं है। समयसार की छठवीं गाथा में भी कहा है कि—शुद्ध द्रव्य के स्वभाव की दृष्टिपूर्वक देखने से ज्ञायकभाव, शुभाशुभ विकाररूप परिणमित नहीं होता। आत्मा की शक्तियों में विकाररूप परिणमित होने का भी स्वभाव नहीं है; तो फिर आत्मा, देहादि के कर्तृत्वरूप परिणमित हो, यह कैसे हो सकता है? विकार, वह त्रिकाली शक्ति का भाव नहीं है किन्तु क्षणिक पर्याय का भाव है।

आत्मा में अनंत शक्तियाँ होने पर भी उसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो पर का कार्य करे अथवा विकार उत्पन्न करे। हाँ, पररूप या विकाररूप परिणमित न हो—ऐसी उसकी अतत्त्वशक्ति है; और स्वभावरूप परिणमित हो—ऐसी तत्त्वशक्ति है।

यहाँ तो अनेकान्तस्वभावी आत्मतत्त्व बतलाना है, आत्मा का स्वभाव बतलाना है, आत्मा की शक्तियाँ बतलाना है; इसलिये उसमें अशुद्धता नहीं आती। यद्यपि राग-द्वेष-दुःख आदि विकार आत्मा की ही एक समयपर्यंत की योग्यता है किन्तु उस विकार की योग्यता से पहिचानने पर आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं होती। आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में अथवा अनंत शक्तियों में विकार की योग्यता भी नहीं है। जैसा स्वभाव है, वैसी ही पर्याय हो, उसे आत्मतत्त्व कहते हैं। धर्म करनेवाले को कहाँ दृष्टि डालना चाहिये?—कि जहाँ से धर्म आये, वहाँ दृष्टि डालना चाहिये। देह से या विकार में से धर्म नहीं आता; एक समय जितनी विकार की योग्यता का आश्रय करके श्रद्धा करने से मिथ्यात्व होता है। मेरा आत्मा तो त्रिकाल ज्ञान, सुख एवं श्रद्धारूप होने की शक्तिवाला है, विकाररूप अथवा पररूप न हो—ऐसा मेरा स्वभाव है,—इसप्रकार शुद्ध स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा करने पर सम्यक्त्व होता है।

पररूप अथवा कर्मरूप होने की शक्ति तो आत्मा के द्रव्य में-गुण में या पर्याय में एक समय भी नहीं है, उससे तो आत्मा सर्वथा अतद्रूप ही परिणमित होता है।

पर्याय में जो विकार है, उसरूप होने की शक्ति भी आत्मा के द्रव्य में या गुण में नहीं है, वह तो मात्र एक समय जितनी पर्याय की ही योग्यता है। त्रिकाली द्रव्य-गुण उस विकार के साथ तद्रूप-एकाकार नहीं हो गये हैं।

त्रिकाली द्रव्य-गुण की ओर ढलकर जहाँ पर्याय उसके साथ एकाकार-तद्रूप हुई, वहाँ

उस पर्याय में विकाररूप परिणमन भी नहीं रहा; वह पर्याय, विकार के साथ अतद्रूप परिणमित हो गई। इसप्रकार स्वशक्ति के अवलम्बन से पर्याय शुद्धरूप परिणमित हो—ऐसी तत्त्वशक्ति, और विकाररूप नहीं—ऐसी अतत्त्वशक्ति आत्मा में है। आत्मा स्वभावी है और यह शक्तियाँ स्वभाव हैं। आत्मा स्वयं ऐसे स्वभाववाला है कि अपने स्वभाव में (-द्रव्य, गुण और शुद्ध पर्याय में) तद्रूप-एकाकार होकर परिणमित होता है। और विकाररूप से अथवा पररूप से अतद्रूप रहता है; अर्थात् उसरूप परिणमित नहीं होता। अहो! विकाररूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है तो फिर कर्म उसे विकार करायें, यह बात कहाँ रही? जिसकी दृष्टि कर्म पर या विकार पर है, उसे आत्मा के शुद्ध स्वभाव की दृष्टि नहीं है; विकारपर्यंत ही आत्मा का अनुभवन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे भाई! तेरा स्वभाव विकाररूप परिणमित होने का नहीं है, तेरा स्वभाव तो शुद्धचैतन्यरूप होने का ही है। उस स्वभाव की ओर जाकर उसकी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान करना तथा उसमें लीनता करना, वही मोक्ष का मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। बीच में शुभभाव हो किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है तथा उसरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि उस शुभ को मोक्षमार्ग माने तो उस जीव ने शुभ विकाररूप परिणमित न होनेरूप आत्मस्वभाव को नहीं जाना, इसलिये वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट है।

जिस प्रकार-जब किसी को भूत आदि का भय लगे, तब मकान के द्वार बन्द कर देता है; उसी प्रकार जिसे विकार का अथवा भव का भय लगा है—ऐसा जीव अतत्त्वशक्ति की प्रतीति द्वारा आत्मा के द्वार बन्द कर देता है कि—विकार का मेरे स्वभाव में प्रवेश ही नहीं है; मेरा आत्मा विकार के साथ अतद्रूप है, इसलिये मेरे आत्मा के द्वार विकार के लिये बन्द हैं। मकान के द्वार बन्द कर दे, तथापि उसमें तो भूत प्रविष्ट भी हो सकता है किन्तु यह चैतन्य मूर्ति आत्मा ऐसा है कि उसके स्वभावगृह में प्रविष्ट होकर मिथ्यात्वरूपी द्वार बन्द करने से उसमें राग-द्वेष-मोहरूपी भूत प्रवेश नहीं कर पाते; ज्ञानी को वे रागादि अपने स्वभावरूप किंचित् भासित नहीं होते।

ज्ञानी को कोई परभाव, स्वभाव में तद्रूप रूप ही भासित नहीं होते, किन्तु अतद्रूप रूप ही भासित होते हैं; इसलिये ज्ञानी, रागादि में तद्रूप होकर—एकाकार होकर परिणमित होते ही नहीं। जो रागादि में तद्रूप होकर परिणमन करता है, उसे आत्मा की अतत्त्वशक्ति की प्रतीति नहीं है। अहो! एक भी शक्ति से आत्मा का स्वरूप भलीभाँति समझे तो उसमें अनंत शक्तियों की प्रतीति का समावेश हो जाता है।

चैतन्य का चैतन्यरूप ही होना, सो तत्त्वशक्ति है; और चैतन्य का जड़रूप न होना, सो अतत्त्वशक्ति है।

''जड़ ते जड़ त्रणकालमां, चेतन चेतनरूप;
कोई कोई पलटे नहीं, छोड़ी आप स्वरूप।''

चेतन त्रिकाल चेतनरूप रहकर परिणमन करता है; और जड़ त्रिकाल जड़रूप रहकर परिणमित होता है। जड़ पलटकर कभी चेतनरूप नहीं होता और चेतन पलटकर कभी जड़रूप नहीं होता।—ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। आत्मा चेतन और शरीर जड़;—दोनों त्रिकाल भिन्न-भिन्न ही परिणमित हो रहे हैं; कभी एक हुए ही नहीं। तदुपरान्त यहाँ तो अंतरंग भाव की सूक्ष्म बात है कि—चेतन अपने चैतन्यस्वभावरूप ही परिणमित होता है और रागादिरूप परिणमित नहीं होता—ऐसा उसका स्वरूप है।

यदि तत्शक्ति न हो तो आत्मा अपने चेतनस्वरूप नहीं रह सकता, चेतनरूप से वह पृथक हो जायेगा और यदि अतत्शक्ति न हो तो आत्मा, शरीरादि से भिन्न नहीं रह सकेगा; जड़रूप हो जायेगा अथवा क्षणिक विकाररूप ही सम्पूर्ण स्वभाव हो जायेगा।—इसप्रकार आत्मा की तत्-अतत् शक्तियों को समझने पर जड़ से और विकार से भिन्न चेतनस्वभाव समझ में आता है; अपना आत्मा चेतनस्वभावमय रहता है ओर विकारमय नहीं होता—ऐसा भेदज्ञान होता है—वह धर्म है। पश्चात् उस धर्म की भूमिका में जो-जो शुभ-अशुभपरिणाम आयें, उन्हें धर्मी जीव अपने स्वभाव से अतद्रूप ज्ञेयरूप से जानता है; इसलिये उसे स्वभाव की ही अधिकता रहती है और विकार की हीनता होती जाती है। ऐसी अंतरदशा हुए बिना व्रत या त्याग के शुभपरिणाम करे तो उसका कोई मूल्य नहीं है; उसका फल भी संसार ही है। वर्तमान परिपूर्ण शुद्ध चिदानंदस्वभाव की उपादेयबुद्धि होने पर समस्त परभावों में हेयबुद्धि हो गई, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; और वही चारित्र की भूमिका है। ऐसी भूमिका बिना आत्मा, धर्म में प्रवेश नहीं कर सकता।

अज्ञानी मुख्य वस्तुस्वरूप को समझने से पूर्व व्रत तथा त्याग की बातें करते हैं और कहते हैं कि—''समझने के बाद भी यही करना है न! इसलिये हमें अभी से प्रारम्भ कर देना चाहिये; यही करते-करते आत्मा समझ में आ जायेगा।''—किन्तु उनकी सारी बात मिथ्या है। आत्मा को समझने के बाद भी तुम्हारे माने हुये व्रतादि नहीं आयेंगे, शुद्धतारहित अकेले राग को तुम व्रतादि मानते हो, किन्तु ऐसा व्रत का स्वरूप है ही नहीं। और अपने माने हुए मात्र शुभरागरूप व्रतादि

अनंत काल तक करते रहो, तथापि उनसे आत्मा की यथार्थ समझ नहीं हो सकती। भाई! राग का मार्ग भिन्न है और धर्म का मार्ग भिन्न है। तुमने राग को धर्म का मार्ग मान लिया है, उसमें तो विपरीत मान्यता का पोषण होता है।

आत्मा, पर के साथ कभी तद्रूप हुआ ही नहीं है, इसलिये पर का त्याग करना तो आत्मा में नहीं है। और राग अपनी पर्याय में होता है; उस राग का त्याग भी "इस राग को छोड़ दूँ"—ऐसे लक्ष से नहीं होता; किन्तु रागरहित शुद्ध चिदानन्दस्वभाव में एकाग्रता होने पर सहज ही रागरहित परिणति हो जाती है और विकार छूट जाता है,—उसका नाम विकार का त्याग है; इसलिये प्रथम आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्रतीति की हो, तभी उसमें एकाग्रता द्वारा विकार का त्याग हो सकता है। इसके अतिरिक्त जो जड़ का त्याग करना मानता है, वह तो आत्मा को जड़ के साथ एकमेक मानता है; इसलिये उसने जड़ से भिन्न आत्मा को नहीं पहिचाना। जैसे—कोई वणिक से कहे कि तू माँस का त्याग कर दे,—तो उसने वणिक को नहीं पहिचाना; क्योंकि वणिक का स्वभाव तो माँस के त्यागरूप ही है; वणिक ने कभी माँस का ग्रहण ही नहीं किया है तो वह छोड़ेगा क्या? उसी प्रकार जो अज्ञानी पर का त्याग करना मानता है, उसने पर से भिन्न आत्मा को पहिचाना ही नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो पर के त्यागरूप ही है। आत्मा ने परवस्तु को ग्रहण ही नहीं किया है तो छोड़ेगा किसे? यहाँ तो स्वभावदृष्टि में "विकार का त्याग करूँ"—ऐसा भी विकल्प नहीं है; क्योंकि स्वभाव में विकार का ग्रहण हुआ ही नहीं है।—ऐसे स्वभाव में जो पर्याय अभेद हुई, वह पर्याय भी स्वयमेव विकार के अभावरूप ही है; वह स्वभाव में तद्रूप तथा विकार में अतद्रूप है। आत्मा जड़ से अतद्रूप है; इसलिये जड़ के संगरहित अकेले आत्मा को लक्ष में लेने से वह शुद्ध ही है, उसमें विकार नहीं है।

आत्मा में तद्रूप परिणमित होने की शक्ति है, अर्थात् जैसा शुद्धस्वभाव है, उसीरूप परिणमित होने की शक्ति है, और वह शक्ति आत्मा की होने से उसके समस्त गुणों में भी तद्रूप परिणमनस्वभाव है। इसलिये ज्ञान का ज्ञानरूप से परिणमन हो, वह तद्रूप परिणमन है किन्तु अज्ञानरूप परिणमन हो तो उसे तद्रूप नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार श्रद्धा, आनन्द, चारित्रादि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।—इसप्रकार समस्त गुणों का तद्रूप परिणमनस्वभाव है और विकार के साथ अतद्रूपता है। ऐसे स्वभाव को न जाननेवाले अज्ञानी, राग में तद्रूप एकाकार होकर परिणमन करते हैं और ज्ञानी तो स्वभाव में ही तद्रूपतारूप परिणमन करते हैं। इसप्रकार

निर्मल परिणमनसहित शक्तियाँ ही आत्मा है। आत्मा में शुद्धतारूप होने की शक्ति तो त्रिकाल है, और अशुद्धतारूप होने की योग्यता तो मात्र एक समयपर्यंत की पर्याय में है, उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहते; क्योंकि उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है।

प्रश्न—यह बात समझने से समाज को क्या लाभ ?

उत्तर—जिससे एक जीव को लाभ होता हो, उससे सभी को लाभ होता है! समाज कोई भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु व्यक्तियों का समूह ही समाज है। इसलिये व्यक्ति भी समाज का एक अंश है। जिससे एक व्यक्ति को लाभ हो, उससे सबको लाभ होता है; इसलिये जो एक व्यक्ति के हित का मार्ग है, वही समाज के हित का मार्ग है। व्यक्ति के हित का मार्ग भिन्न हो और समाज के हित का भिन्न हो—ऐसा नहीं है।

इसलिये, इसे समझकर स्वयं अपना हित साध लेना चाहिये। हित का यह एक ही मार्ग है। समाज के जितने जीव इसे समझेंगे, उन्हीं का कल्याण हो सकेगा।

परपदार्थ में आत्मा कुछ नहीं कर सकता। या तो "पैसा ही मेरा परमेश्वर है और मैं उसका दास हूँ"—ऐसी तीव्र ममता करता है, या फिर ममत्व कम करके दानादि के भाव करता है; किन्तु उसमें भी कहीं धर्म नहीं है। मैं तो सबसे भिन्न चिदानन्दस्वरूप हूँ—इसप्रकार स्वरूप का भान करके पर की ममता का अभाव करना तथा स्वरूप में स्थिर होना, उसका नाम धर्म है; इसके अतिरिक्त लाखों-करोड़ों उपायों से भी धर्म नहीं हो सकता।

प्रश्न—यह बात तो बड़े-बड़े आचार्यों को भी कठिन मालूम हो ऐसी है ?

उत्तर—भाई! बड़ा किसे कहा जाये ? क्या विशाल शरीरवालों को बड़ा कहना चाहिये ? तब तो मत्स्य भी बड़े-बड़े हजार योजन लम्बे होते है; तो क्या उन्हें बड़ा कहोगे ? क्या जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो, उसे बड़ा कहोगे ? क्या जिसका पद बड़ा हो, उसे बड़ा कहना चाहिये ? तब तो माँसाहारी पापी जीव भी पैसे में तथा पदवी में बड़े हाते हैं। क्या उन्हें बड़ा मानोगे ?—नहीं; शरीर, लक्ष्मी, या पुण्य द्वारा धर्म में बड़ापन नहीं माना जाता। धर्म में तो धर्म से ही बड़ापन माना जाता है। जिसे धर्म का भान भी न हो, वह भले ही समाज में आचार्य कहलाता हो, तथापि उसे धर्म में बड़ा नहीं मानते। समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि—पर से भिन्न एकत्वस्वरूप आत्मा के भान बिना समस्त अज्ञानी जीव परस्पर आचार्यपना बतलाते हैं। सच्चे तत्त्व से विरुद्धप्ररूपणा करके अज्ञानी एक-दूसरे के अज्ञान को पोषण देते हैं, वह तो विपरीत आचार्यपना है। जगत के जीव मानें

या न मानें, उसकी यहाँ चिन्ता नहीं है; संसार तो इसी तरह ज्यों का त्यों चलता ही रहेगा, यहाँ तो स्वयं सत्य समझकर अपना हित कर लेने की बात है।

भाई, तू अनंत बार मनुष्य हुआ, बड़ी-बड़ी पदवियाँ तथा राज्यपद भी अनंत बार प्राप्त हुए; किन्तु यह चैतन्य राजा स्वयं कौन है—उसकी बात भी तूने कभी प्रेमपूर्वक नहीं सुनी। पर में तेरा पद नहीं है, विकार भी तेरा सच्चा पद नहीं है, वे तो सब अपद हैं... अपद हैं, इसलिये उनसे विमुख हो और इस अनंत शक्ति सम्पन्न शुद्ध चैतन्यपद में प्रवेश कर! एक बार अपने निजपद की अनंत ऋद्धि का निरीक्षण करे, तो बाह्य ऋद्धि की महिमा छूट जाये। तेरी चैतन्य ऋद्धि सर्वज्ञ भगवान के समान है, सर्व शास्त्र तेरे चैतन्यपद की महिमा गाते हैं। सुन—

''जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहिं कांई।
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई॥''

भगवान सर्वज्ञ जिनदेव और तेरा आत्मा परमार्थतः समान हैं; 'जिन' और 'निज' दोनों स्वभावरूप से समान हैं; स्वभाव में किंचित् अंतर नहीं है। ऐसे स्वभाव का लक्ष कराने के लिये ही सर्व शास्त्र रचे गये हैं। अंतर्मुख होकर ऐसे चैतन्यपद को लक्ष में लेना ही सर्वशास्त्रों का सार है... ऐसे चैतन्यपद को जिसने लक्ष में नहीं लिया, उसने शास्त्रों का तात्पर्य नहीं जाना।

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में से ही भगवान को सर्वज्ञपद की प्राप्ति हुई और वाणी द्वारा उस सर्वज्ञस्वभाव का कथन किया। जिसने उस सर्वज्ञस्वभाव को लक्ष में लिया, वह भगवान के मार्ग में सम्मिलित हुआ, वह साधक हो गया और उसी ने भगवान का उपदेश यथार्थरूप से जाना।

लोग पूछते हैं कि क्या करें?

देखो, यहाँ क्या करना—वही कहा जा रहा है। ''लक्ष थवाने तेहनो...'' तेरा शुद्ध चैतन्यपद सर्वज्ञस्वभाव से परिपूर्ण है; उसका तू लक्ष कर। श्रवण-पठन-विचार-मनन—उन सबमें इस शुद्ध चैतन्यपद को लक्ष में रख। कहाँ लक्ष करने योग्य है और कहाँ से लक्ष उठाने जैसा है, उसे समझ। बाह्य में तेरा पद नहीं है; बाह्य में लक्ष करके अभी तक भटका, इसलिये वहाँ से लक्ष उठा और अंतर में तेरा चैतन्यपद सर्वज्ञ समान है—उसमें लक्ष कर। अंतर्मुख लक्ष करने से ही कल्याण है; इसलिये वही करना है।

देखो, यह सीधी-सादी बात है।

तू है या नहीं? कि—हाँ।

पर है या नहीं ?—हाँ।

तू और पर पृथक् हो या एक ?—पृथक्।

जो पृथक हैं, उनके कार्य पृथक् होते हैं या एक ?—पृथक्।

—इसप्रकार जो पृथक् हैं, उनके कार्य भी पृथक् होते हैं; इसलिये पृथक् पदार्थों की दृष्टि छोड़! उनका मैं कुछ करता हूँ—यह मान्यता छोड़; और अपने में देख।

तुझमें जो विकार है, वह नित्य स्थायी है या क्षणिक ?

—विकार तो क्षणिक है।

और तेरा स्वभाव नित्य स्थायी है या क्षणिक ?

—आत्मा का स्वभाव तो नित्य स्थायी है।

बस! क्षणिक विकार जितना आत्मा नहीं है; आत्मा तो नित्य स्थायी ज्ञानादि अनंत गुणों का भंडार है; उस अनंत गुणरूप स्वभाव को देख! उस स्वभाव में एकाकार हो और विकार की एकता छोड़!—यही धर्म तथा हित है। आत्मा को पर से भिन्न जानकर स्वभाव में एकतारूप परिणमन करे, वह धर्मी—अंतरात्मा है; और जो पर के साथ एकता मानकर विकार में एकतारूप परिणमन करे वह अधर्मी-बहिरात्मा है।

अंतर स्वरूप का अवलोकन करने से विकार की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि स्वभाव में विकार नहीं है; विकार के साथ स्वभाव की एकता नहीं है। बाह्य दृष्टि से संसार उत्पन्न हुआ है; अंतर्मुख होकर स्वभाव का अवलोकन करने से उसका नाश हो जाता है।

''उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार।
अंतर्मुख अवलोकतें विलय थतां नहि वार॥''

अहो! चैतन्यस्वभाव में तो त्रिकाल आनन्दरूप होने की ही शक्ति है; किन्तु जीव अपनी उस शक्ति को नहीं देखता। इसीलिये उसे आनन्द का परिणमन-वेदन नहीं होता; और बाह्य दृष्टि से वह दुःख का ही वेदन करता है; वह दुःख वेदने का उसका स्वभाव नहीं है। दुःख तो एक समय मात्र पर्याय में है और आनन्दस्वभाव से द्रव्य-गुण त्रिकाल परिपूर्ण है। अकेले सिद्धों में नहीं किन्तु सर्व आत्माओं में ऐसा आनन्दस्वभाव भरा है; उस स्वभाव में देखे इतनी देर है।

देखो, मुमुक्षु विचार करता है कि मुझे तो मोक्ष की आवश्यकता है; मुझे भव (संसार) नहीं चाहिये। इसका अर्थ यह होता है कि आत्मा में मोक्ष होने का स्वभाव है किन्तु भव होने का स्वभाव

नहीं है। भव की उत्पत्ति न हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे आत्मस्वभाव को लक्ष में लिए बिना—''मोक्ष की आवश्यकता है और भव नहीं चाहिये''—ऐसी भावना सच्ची नहीं होती। भव के कारणरूप विभाव को जो अपने स्वभाव में मानता है या शुभाशुभ राग को हितकर मानता है, उसे भव से छूटने की सच्ची भावना ही नहीं है, इसलिये सच्ची मुमुक्षुता उसे नहीं हुई है। जिसमें भव नहीं है—ऐसे आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना भवरहित होने की सच्ची भावना नहीं होती।

प्रश्न—सम्यक्त्वी को भवरहित स्वभाव की श्रद्धा होने पर भी उसे एकाध भव तो होता ही है।

उत्तर—अनंत शक्ति के पिण्डरूप भवरहित स्वभाव की दृष्टि में प्रति क्षण उसे मोक्षरूप परिणमन ही हो रहा है; वहाँ एकाध भव रहा है, उसका वह ज्ञाता है; स्वभावोन्मुख वृत्ति में उसे भव की ओर के परिणमन की प्रधानता नहीं है किन्तु मोक्ष की ओर के परिणमन की ही प्रधानता है; और जिसकी प्रधानता हो, उसी का अस्तित्व माना जाता है, इसलिये सम्यक्त्वी को भव नहीं है।

''आत्मा को जाना किन्तु आनन्द नहीं आया अथवा अनंतभव की शंका दूर नहीं हुई''—ऐसा कोई कहे तो उसने आनन्द के साथ आत्मा को तद्रूप नहीं माना है, किन्तु उससे पृथक माना है अर्थात् उसने आत्मा को जाना ही नहीं है। अनंत गुणों के साथ तद्रूप ऐसे आत्मा को जानने से उसके अनंत गुणों में तद्रूप अर्थात् जैसा स्वभाव है, उस स्वभावरूप परिणमन होता है; आनन्द का वेदन होता है और भव की शंका दूर हो जाती है।—ऐसे साधक को अल्प विकार रहे, उसकी मुख्यता न होने से (–उसमें तद्रूपता न होने से) वह अभाव समान ही हैं।

आत्मा की तद्रूप परिणमनरूप शक्ति को जानने पर भी पर्याय में मात्र विकाररूप ही परिणमन है—ऐसा जो माने, उसने वास्तव में स्वभाव के साथ तद्रूप आत्मा को जाना ही नहीं है; उसने तो आत्मा को विकार के साथ ही तद्रूप माना है। यदि यथार्थ जाने तो गुण के परिणमन में भी विकार से अतद्रूपता होकर स्वभाव में तद्रूपता हुए बिना न रहे, क्योंकि ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में ज्ञान–आनन्द–श्रद्धादि अनंत गुण हैं; उन अनंत गुणों के साथ तद्रूप होकर परिणमित हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान तद्रूप परिणमित हो और आनंदादि का परिणमन न हो—ऐसा नहीं हो सकता। अभेद परिणमन में समस्त गुणों का अंश सम्यक्रूप परिणमित होता है—ऐसा आत्मस्वभाव है।

—यहाँ २९ वीं तत्त्वशक्ति और ३० वीं अतत्त्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

श्री पद्मनंदी आचार्य कृत श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका के
देशव्रतोद्यन नामक अधिकार पर सत्पुरुष
श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

देशव्रतोद्योतनम्

(प्र० भाद्रपद सुदी २, शुक्रवार, ता० १९-८-५५)

[गतांक १५८ से चालू]

श्रावक, धर्म की प्रभावना के लिये दान करता है।

गृहस्थी श्रावक और धर्मी की दृष्टि कैसी होती है, धर्म दृष्टि सहित श्रावकत्व कैसे सुशोभित होता है ? यह प्रकरण चल रहा है। यह व्रत का अधिकार है। इसमें दान की चर्चा है। धर्मात्मा तो हो किन्तु अपनी लक्ष्मी के प्रमाण में दान न करे तो वह लोभी है। धर्मी जीव के व्रत का सच्चा विकास होता है। जिनेन्द्र भगवान की पूजा, गुरु सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान—ये छह आवश्यक श्रावक को हमेशा करने चाहिये, अगर वह हमेशा नहीं करे तो वह श्रावक कहलाने योग्य नहीं है। एक दिन शरीर नष्ट हो जायेगा, संयोगजनित वस्तुएँ हवा की तरह उड़ जायंगी, अनंत काल में मनुष्यभव मिला है, उसमें मुनि धर्म ग्रहण नहीं कर सके तो गृहस्थ और ब्रह्मचारी रहना चाहिए। इस गाथा में कहा है कि धर्मप्रमी को देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनुराग होता ही है, उनके प्रभावनार्थ अपने पैसे का सदुपयोग करता ही है। सांसारिक कार्यों में अपने धन का उपयोग करना पाप है, दान में खर्च करना पुण्य है। धर्मी को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शोभा और प्रभावना का भाव आये बिना नहीं रहता। शरीर की शोभा के लिए खर्च करते हैं, उन्हें देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना के लिए भी दान देना चाहिए।

गाथा-१४

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका।
नैव स्थाननु तद्विनाधनवतो लोक,यध्वंसकृत॥
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते।
तन्नाशाय शशांकशुभ्रयशसे दानं न चात्यत्परम्॥१४॥

दान से श्रावक की शोभा बढ़ती है और आत्मीय व लौकिक यश प्राप्त होता है।

कंजूस जीव लोभरूपी खोई में गिरे हुए हैं। उन्हें धर्म की तरफ आकर्षित करने के लिए आचार्य कहते हैं कि धर्मी मनुष्यों का गृहस्थपना दान से ही सुशोभित होता है। अपने पुत्र-पुत्री के विवाह के लिए सबकुछ करता है, तब देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रेम क्यों नहीं आता? (यह अधिकार श्रावक धर्म का प्रकाशन करता है) जिसे धर्म की तरफ दृष्टि हुई है, उसकी शोभा देव-गुरु-शास्त्र और धर्मात्मा के लिए दान देने से बढ़ती है। किंतु दान बिना गृहस्थपना नष्ट हो जाता है। गृहस्थी धनार्जन के लिए अनेक प्रकार के छल-कपट करता है किंतु पुण्य का उदय हो, तभी पैसा मिलता है। व्यापार में पाप किया जाता है, स्त्री-संतान के लिए धन कमाकर रख जाना दान नहीं है किंतु पापभाव है क्योंकि वे भाव पापवृत्तिसहित होते हैं। उस पाप का नाश करने के लिए तथा चन्द्रमा समान यश की प्राप्ति के लिए दान करना चाहिए। सत्पात्र को दान देने से आत्मीय और लौकिक यश मिलता है, इसलिए भव्य जीवों का कर्तव्य है कि वे योग्य पात्रों को दान देते रहें। यह सबकुछ मुनि अपने स्वार्थ या प्रयोजन के लिए नहीं कहते, किन्तु श्रावक के शुभराग के लिए कहते हैं। अपनी शक्ति अनुसार दान देना चाहिए। धर्मात्मा को धर्म प्रेम के कारण ऐसा शुभराग आये बिना नहीं रहता।

गाथा - १५

पात्राणामुपयोगी यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते।
येनानंतगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः॥
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुवम्।
सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम्॥१५॥

लक्ष्मी का दान में उपयोग किया जाये, तभी वह सफल है; सांसारिक कार्यों में व्यय की हुई लक्ष्मी नष्ट हो जाती है।

जिस धन का उपयोग उत्तमादि सत्पात्रों के दान में किया जाता है, उसे ही विद्वान उत्तम समझते हैं। व्रत, तप, धर्म की शोभा-प्रभावना में लगाया हुआ धन अच्छा समझा जाता है। धर्म की वृद्धि में उसका लक्ष्य है, वह परलोक में सुख देनेवाला है। धर्म के प्रेम में राग कम करके दान किया जाये तो उसका दान-दाता को महान फल मिलता है। यद्यपि उसे उस फल की इच्छा नहीं है किंतु उसे वह सहज ही मिल जाता है। जिस प्रकार बीज जमीन में बोया जाये तो ओर उससे बहुत-सा

अनाज पैदा होता है; उसी प्रकार धर्मात्मा गुप्तदान में हजारों रुपये खर्च करता है, उसके फलस्वरूप उसे उत्तम पद मिलता है। सम्यक्त्वी को तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि उच्च पद मिलते हैं। उन्हें आत्मा के प्रेमसहित राग हुआ है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसकी रुचिपूर्वक देव-गुरु-शास्त्र के प्रति जिसे प्रेम हुआ, उसे सर्वज्ञदेव, जिनके आत्मा के अनंत गुण विकसित हो गये हैं, के प्रति तथा उनकी प्रतिमा के प्रति प्रेम आता ही है। जिसका उसे अनंतगुना फल मिलता है।

मुनि को बारम्बार छठे-सातवें गुणस्थान की भूमिका आती है; उन्होंने ताड़ पत्रों पर सींक द्वारा छिद्र करके शास्त्र लिखे हैं। मुनि तो लिखकर चले जाते हैं, पीछे श्रावक उन्हें सुरक्षित रखते हैं।

जीव विचार करते हैं कि "हमारे पास अभी थोड़ी-सी पूंजी हो, इसमें से दान के लिए कैसे खर्च करें? हाँ, ज्यादा हो जाये तो खर्च कर सकते हैं।" उसे कहते हैं कि भाई, सांसारिक कार्यों में खर्च करते हो और धर्म के लिए नहीं खर्च करो तो धर्मी नहीं हो। यह मनुष्य यूरोप आदि देशों में भ्रमण करता है, तब वहाँ अनेक प्रकार के भोग-विलासों में पैसा खर्च करता है; किन्तु इसप्रकार उसकी लक्ष्मी का नाश ही होता है, और पूर्व पुण्यों का भी जल्दी ही अन्त आ जाता है। इसलिए समझना चाहिए कि गृहस्थ की सब सम्पदा का प्रधान फल एक दान ही है। स्त्री, पुत्रादि के लिए खर्च किया हुआ धन भी नष्ट ही होता है और कूड़े में जाता है क्योंकि उसका कोई फल नहीं है और न कोई नवीन पुण्य का बंध होता है जिसके उदय में आने पर फिर धन मिले। यह है वस्तु स्वरूप।

प्रश्न—फल तो भावों का है न?

समाधान—लड़के-लड़की के लिये खर्च करता है, वहाँ तो भाव ही लेकर नहीं बैठ जाता। कोई जीव अन्तिम समय में कहे कि मुझे पाँच लाख रुपए खर्च करने हैं तो लड़का टालने की इच्छा से कहता है कि पिताजी! आज तो पंचमी है, कल छठ को खर्च करना किन्तु उनके खर्च करने के लिए छठ होनी ही नहीं, वे तो आज ही कूच कर जाएंगे। लोभी जीवों, देखो! स्त्री-पुत्र के लिये जो धन रखा जाता है, वह लड्डू को विष्ठा में डालने के समान है।

भावार्थ—गृहस्थ सदा अनेक प्रकार के कार्यों में पैसा खर्च करता है, वह सब पैसा कूड़े में डालने के समान है। किन्तु जिस धन का उत्तम आदि पात्रों में तथा धर्म की शोभा में व्यय किया जाता है, वह उत्तम है और परभव में अनेक प्रकार के सुखों का कारण है। उस दाता को तीर्थंकर, बलदेव आदि का उत्तम पद मिलता है। धर्मात्मा को फल की इच्छा नहीं है; जो मांगता नहीं है, उसे वह पद अपने आप मिल जाता है। जो धन, भोग-विलास आदि हलके कार्यों में तथा विभिन्न

मिठाईयाँ खाने में, वस्त्राभूषण, मोटरादि वाहनों में खर्च किया जाता है, वह धन सर्वथा नष्ट हो जाता है तथा उसके फलस्वरूप परलोक में किसी प्रकार का सुख नहीं मिलता। स्त्री, पुत्र-पुत्री, काका-काकी, भतीजा-भतीजी, बहन-बेटी आदि के लिए खर्च करना पाप है क्योंकि वह सब अधिक राग का परिणाम है, वह खर्च किया हुआ धन सर्वथा नष्ट होता है, उसका परलोक में कोई पुण्य फल नहीं मिलता, क्योंकि समस्त सम्पदा का प्रधान फल दान है। इसलिए धर्मात्मा श्रावकों को सर्वदा उत्तमादि पात्रों को दान देकर प्राप्त हुये धन का सदुपयोग करना चाहिये। आचार्य पुनः दान की महिमा बतलाते हैं:—

गाथा-१६

पुत्रो राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाभयं प्राणिषु।
प्राप्ता नित्य सुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवा॥
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथम तो दानं निदानं बुधैः।
शक्त्या देयमिदं सदा तिचपले द्रव्ये तथा जीविते॥१६॥

जीवन और लक्ष्मी को विनाशक जानकर यथाशक्ति दान देना चाहिये।

भूतकाल में बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं ने अपने पुत्र को राज्य देकर, याचकों को दान देकर, सब प्राणियों को अभयदान देकर मुनिधर्म स्वीकार किया और अन्त में अविनाशी सुख प्राप्त किया है; इसलिए मोक्ष का प्रथम कारण दान है, इसलिए धर्मी को दान का भाव आये बिना नहीं रहता। विद्वानों को जानना चाहिये कि धन और जीवन पानी के बुलबुले के समान हैं; धन को रखना भी चाहे तो रहेगा नहीं।

''नहीं था उन्हें मिला, और जिन्हें मिला था उनका गया।''

जिस प्रकार पानी का बुलबुला नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार धन और जीवन अपने आप नष्ट हो जाते हैं। इनको विनाशीक समझकर शक्ति के अनुसार धर्म की वृद्धि के लिए उत्तम पात्रादि को दान देना चाहिए।

पूज्य श्री कानजी स्वामी

क्या कहते हैं ?

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के उपदेश के सम्बन्ध में ''शासन प्रभाव'' नाम की पुस्तिका (गुजराती में) प्रकाशित हुई है; जिज्ञासुओं को उपयोगी होने से उसे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

(१) सर्वज्ञ की श्रद्धा और सम्यक्दर्शन

आप भारपूर्वक कहते हैं कि—जिसे धर्म करना हो, उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये। सर्वज्ञ की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना सर्वज्ञ की सच्ची पहिचान भी नहीं होती,—इसप्रकार यह दोनों एक-दूसरे के सहभावी हैं; इसलिये धर्म का मूल सर्वज्ञ है—ऐसा कहो अथवा ''धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है''—ऐसा कहो, यह दोनों एक ही है। इस सम्बन्ध में श्री प्रवचनसार की गाथा ८०-८२ उन्हें अत्यन्त प्रिय है; उसमें कहा है कि—जो जीव द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहंतदेव को पहिचानता है, वह जीव अपने आत्मा को भी अवश्य पहिचानता है और उसका दर्शनमोह अवश्य क्षय होकर उसे सम्यग्दर्शन होता है। फिर शुद्धोपयोग के बल से राग-द्वेष का क्षय करने से चारित्रमोह का भी क्षय हो जाता है.... समस्त तीर्थंकर भगवन्तों ने इसी उपाय से कर्मों का क्षय किया है और इसीप्रकार का उपदेश करके निर्वाण को प्राप्त हुए; उन अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार हो!

(२) सम्यक् पुरुषार्थ, सर्वज्ञ का निर्णय और क्रमबद्धपर्याय

इस जगत में ''सर्वज्ञ'' हैं; सर्वज्ञ ने सर्व पदार्थों की त्रिकाल की पर्यायों को प्रत्यक्ष जान लिया है और उसी प्रकार होने का पदार्थ का स्वरूप है। उसमें कुछ भी परिवर्तन करने की जिसकी बुद्धि है, उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा का, अथवा वस्तुस्वरूप के निर्णय का पुरुषार्थ नहीं है। सर्वज्ञ की श्रद्धा में और वस्तुस्वरूप का निर्णय करने में स्वसन्मुख अपूर्व पुरुषार्थ है।—ऐसे पुरुषार्थ के बिना सर्वज्ञ का अथवा क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय कभी नहीं हो सकता।

सर्वज्ञ की श्रद्धा में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी आ ही जाता है; और मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ भी उसमें आ जाता है। यह विषय पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के मुख से सुनकर अवश्य समझने योग्य है। ''सर्वज्ञ ने जो देखा है, वही होगा; उसमें फेरफार नहीं हो सकता—इसप्रकार सर्वज्ञ की ओट लेने से तो पुरुषार्थ उड़ जाता है''—इस मान्यता में अत्यन्त गम्भीर भूल है। पूज्य स्वामीजी कहते हैं कि हे भाई! क्या तूने सर्वज्ञ का निर्णय किया है? ''इस जगत में सर्वज्ञ हैं—जिनके भव नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है।''—इसप्रकार सर्वज्ञस्वभाव के लक्ष द्वारा सर्वज्ञ का निर्णय करने में रागादि से भिन्न ज्ञानस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ भी आ ही जाता है; इसलिये सर्वप्रथम तू सर्वज्ञ का निर्णय कर। सर्वज्ञ का निर्णय करने से—(उसमें ज्ञानस्वभाव का, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी आ ही जाता है) तुझे ज्ञात होगा कि उसमें सम्यक् पुरुषार्थ आता है या नहीं!

(३) देशनालब्धि

पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि एकबार भी ज्ञानी गुरु के उपदेश का सीधा श्रवण किये बिना किसी भी जीव को देशनालब्धि नहीं हो सकती;—यह जिन सिद्धान्त का नियम है। अज्ञानी के उपदेश द्वारा कभी देशनालब्धि नहीं हो सकती। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये देशनालब्धि में अज्ञानी को निमित्त मानना अथवा तो अकेले शास्त्र को निमित्त मानना, वह एक महान भूल है।

(४) चारित्रमय मुनिदशा की अचिन्त्य महिमा

उनके प्रवचन में बारम्बार दिगम्बर संत-मुनिवरों के प्रति भक्तिपूर्ण उद्गार निकलते हैं। ''णमो लोए सव्वसाहूणं'' पद का जब वे विवेचन करते हैं, उस समय श्रोताजन मुनिवरों की भक्ति से गद्गद् रोमांचित हो जाते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव, धरसेनाचार्यदेव, वीरसेनाचार्यदेव, समन्तभद्राचायदेव, नेमिचन्द्राचार्यदेव आदि दिगम्बर संतों का स्मरण करके जब वे भक्तिपूर्वक कहते हैं कि अहो! छठवें-सातवें गुणस्थान में अतीन्द्रिय आत्मानन्द में झूलनेवाले... और वन -जंगल में वास करनेवाले उन संत-मुनिवरों की क्या बात करें!! हम तो उनके दासानुदास हैं; अभी हमें मुनिदशा नहीं है; अभी उसकी भावना भा रहे हैं। उस मुनिदशा की तो क्या बात! किन्तु उसके दर्शन होना ही महान सौभाग्य है!

वे स्पष्ट कहते हैं कि जिनशासनों में वस्त्रसहित मुनिदशा कभी नहीं होती और अंतर में आत्मज्ञान के बिना मात्र दिगम्बरता से भी मुनिपद नहीं होता। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के

उपरान्त अंतर में लीनतारूपचारित्र द्वारा ही मुनिपद होता है, और जब ऐसा मुनिपद हो, उस समय वस्त्रादि का त्याग तो सहज ही होता है। बाह्य वस्त्रसहितदशा हो और भाव में मुनिदशा हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता।

(५) उपादान-निमित्त

किसी भी वस्तु में अपनी योग्यता के सामर्थ्य से जब कार्य हो, उस समय अन्य निमित्त की उपस्थिति नियमरूप से होने पर भी, कार्य में उसका अकिंत्किरपना है; उपादान और निमित्त दोनों का परिणमन एक-दूसरे से स्वतंत्र है;—यह बात वे अनेक दृष्टान्तों, युक्तियों तथा शास्त्रीय प्रमाणों से भलीभाँति समझते हैं और कहते हैं कि जीव निमित्ताधीन-पराश्रितबुद्धि से ही संसार में भटक रहा है। निमित्ताधीन दृष्टि का परिणमन छोड़कर अपने स्वाधीनस्वभाव की ओर परिणमन करना ही मुक्ति का मार्ग है।

(६) निश्चय-व्यवहार

निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में भी उनकी विवेचन शैली विशिष्ट है। निश्चय-व्यवहार का रहस्य वे जिस ढंग से समझाते हैं, उसे समझते ही समस्त जिनसिद्धान्त का रहस्य खोलने की कुंजी हाथ में आ जाती है! वे कहते हैं कि निश्चयस्वभाव के आश्रय से ही मुक्तिमार्ग है, व्यवहार के शुभराग के आश्रय से कदापि मुक्ति नहीं होती। और ऐसा भी नहीं है कि मुक्तिमार्ग में प्रथम व्यवहार हो और फिर निश्चय। निश्चय के बिना सच्चा व्यवहार नहीं होता। व्यवहार करते-करते उसके अवलम्बन से निश्चय हो जायेगा—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे दिगम्बर जिन सिद्धान्त में "व्यवहार मूढ़" कहा है। निश्चय-व्यवहार के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को वे खूब विवेचनपूर्वक समझाते हैं और भारपूर्वक कहते हैं कि—यह जैनधर्म की मूल वस्तु है; इसमें जिसकी भूल है, वह जैनधर्म के रहस्य को नहीं समझ सकता। निश्चय के आश्रय बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

(७) देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा

जिस जीव को धर्म की प्रीति है, उसे सम्यग्दर्शन से पूर्व तथा उसके पश्चात् भी जब तक राग रहता है, तब तक "राग वह धर्म नहीं है"—ऐसा भान होने पर भी, वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अतिशय भक्ति-बहुमान पूजनादि का राग आये बिना नहीं रहता। यदि देव-गुरु-शास्त्र के दर्शन-पूजनादि का भाव न आये तो वह स्वच्छन्दी है और यदि उस राग में ही धर्म मान कर रुक

जाये तथा सम्यक्दर्शनादि का प्रयत्न न करे तो वह भी अज्ञानी है; इसलिये किस भूमिका में कैसा राग होता है और धर्म का क्या स्वरूप है—उन दोनों का भिन्न-भिन्न स्वरूप पहिचानना चाहिये। पूज्य स्वामीजी जब चरणानुयोग द्वारा गृहस्थों का कर्तव्य समझाते हैं, और उसमें भी पुराणों की कथाओं द्वारा जब संत पुरुषों का दृष्टान्त देते हैं, उस समय पुराण पुरुषों का चरित्र मानों अपनी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो—ऐसा अनुभव होता है।

(८) पुण्य-पाप और धर्म

मिथ्यात्व-हिंसादिभाव पाप हैं; दया-पूजादि शुभराग पुण्य-बन्ध का कारण है और धर्म तो आत्मा का वीतरागभाव है—इसप्रकार तीनों का भिन्न-भिन्न स्वरूप वे भलीभांति समझाते हैं। उसीप्रकार नवतत्त्वों में जीव-अजीव की भिन्नता, आस्रव-संवर की भिन्नता आदि का भी वे अत्यन्त स्पष्ट विवेचन करते हैं। राग द्वारा संवर होना मानना, वह तत्त्व की भूल है।

(९) क्रिया

क्रिया के कितने प्रकार हैं और उनमें कौनसी क्रिया से धर्म होता है—उस सम्बन्ध में वे समझाते हैं कि चेतन और जड़ पदार्थों की क्रिया भिन्न-भिन्न है; चेतन की क्रिया चेतन में होती है और जड़ की क्रिया जड़ में होती है। चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता और जड़ की क्रिया चेतन नहीं करता। क्रिया के तीन प्रकार हैं—

(१) धर्म की क्रिया।

(२) विकार की क्रिया।

(३) जड़ की क्रिया।

(१) आत्मा का ज्ञान-आनन्दस्वभाव है; वह जड़ से और रागादि से पृथक् है; ऐसे स्वभाव में अंतर्मुख होकर जो सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप क्रिया होती है, वह धर्म की क्रिया है। वही क्रिया मोक्ष का कारण है।

(२) आत्मा अपने स्वभाव से बहिर्मुख होकर जो राग-द्वेष-मोहरूप भाव करता है, वह विकार की क्रिया है, और वह क्रिया संसार का कारण है।

(३) आत्मा से भिन्न देहादि की जो क्रिया, वह सब जड़ की क्रिया है, उस जड़ की क्रिया से न तो आत्मा को धर्म होता है और न अधर्म—क्योंकि उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

इसप्रकार तीनों क्रियाओं का भिन्न-भिन्नस्वरूप समझना चाहिये।

(१०) सम्यग्दर्शन

पूज्य स्वामीजी के सर्व उपदेश का मुख्य भार ''सम्यग्दर्शन'' पर है। वे कहते हैं कि—सम्यग्दर्शन अलौकिक एवं अपूर्व वस्तु है। सम्यक्त्वी ने अपने आत्मा में सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चख लिया है। एक क्षण के सम्यक्दर्शन में इतनी शक्ति है कि अनंत भव का नाश कर दे। सम्यक्दर्शन होते ही जीव नि:शंक हो जाता है कि बस! अब मेरे अनंत भव का अभाव हो गया; अब मैं साधक हुआ और अल्पकाल में मेरी मुक्ति होगी। सम्यक्त्वी को स्वयं अपने से ही अपना निर्णय होता है; दूसरे से पूछना नहीं पड़ता। जीव ने संसार परिभ्रमण में शुभरागरूप व्रत-तप-त्याग अनंतबार रकिये हैं किन्तु सम्यग्दर्शन कभी प्रगट नहीं किया; और सम्यग्दर्शन के बिना कभी सम्यक्ज्ञान अथवा सम्यक्चारित्र नहीं होता। सम्यक्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या होता है, इसलिये सम्यक्दर्शन ही धर्म का मूल है—ऐसा जानकर प्रथम सम्यक्दर्शन का प्रयत्न करना चाहिये।

—इसप्रकार पूज्य स्वामीजी के उपदेश का संक्षिप्त परिचय कराया। पूज्य गुरुदेव की सानुभव प्रवचन शैली श्रोताजनों को मुग्ध कर देती है। प्रवचन में वे अनेक युक्तियाँ, दृष्टान्त तथा शास्त्रों के आधार देते हैं। हजारों श्रोताजनों की सभा में भी सम्पूर्ण शांत वातावरण रहता है और समय की नियमितता का पालन होता है। उनकी वाणी आत्मस्पर्शी होने के कारण नि:शंकतापूर्वक धाराप्रवाहरूप से बहती है।

दिव्यध्वनिधाम राजगृही तीर्थ में

मंगल-प्रवचन

फाल्गुन कृष्ण १४ के दिन पूज्य स्वामीजी ने राजगृही नगरी में दिव्यध्वनिधाम विपुलाचल तीर्थ की यात्रा की... विपुलाचल पर महावीरस्वामी के समवशरण तथा दिव्यध्वनिधाम के हार्दिक उल्लासपूर्वक साक्षात् दर्शन किये... दिव्यध्वनि खिरने के उस धन्य अवसर का स्मरण करके भावपूर्ण अद्भुत भक्ति की... तत्पश्चात् नीचे आकर प्रवचन में जो भक्ति का स्रोत बहाया, वह यहाँ दिया गया है। दिव्यध्वनि का वह प्रवचन जिज्ञासु जीवों को उपयोगी होगा।

जहाँ तीर्थंकरों के कल्याणक हुए और आत्मज्ञान-ध्यानवंत मुनियों के चरण से जो भूमि पावन हुई हो, उसे तीर्थ कहते हैं। यह राजगृही तीर्थधाम है; यहाँ भगवान महावीर का समवशरण था। उन दिनों यह श्रेणिकराजा की राजधानी थी। इसी स्थान पर भगवान महावीर के समवशरण में श्रेणिकराजा ने क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त किया था। उनके चारित्र नहीं था किंतु आत्मा का भान था; इसलिये उन्होंने तीर्थंकरनामकर्म का बंध किया है; अगले भव में वे इस भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर होंगे।

इस राजगृही में भगवान महावीर के समय में श्रेणिकराजा राज्य करते थे। उन्हें राज्य का उसप्रकार का राग तो था किंतु वे राग जितना ही आत्मा को नहीं मानते थे; उन्हें राग से और राज्य से पार चिदानन्दस्वरूप का भान था। यह भूमि तो वर्तमान चौबीसी के २३ तीर्थंकरों के महापवित्र चरणों से पावन हुई है; २३ तीर्थंकरों के समवशरण इस राजगृही में आये हैं; इसलिये यह तीर्थ है। इस भूमि में अनेक संतों ने आत्मा का ज्ञान-ध्यान करके भव से पार होने का उद्यम किया है।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन सर्व प्रथम इसी विपुलाचल पर्वत पर सर्वज्ञ भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि खिरी थी; वही यह क्षेत्र है। गौतमस्वामी को गणधरपद भी यहीं प्राप्त हुआ था और भगवान की देशना को झेलकर उन्होंने बारह अंगरूप शास्त्रों की रचना भी यहीं की थी। वैशाख शुक्ला दसवीं के दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ किंतु छियासठ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी। जब यहाँ राजगृही में विपुलाचल पर भगवान का समवशरण आया और गौतमस्वामी सभा में आये, तब छियासठ दिन बाद सर्व प्रथम भगवान की दिव्यध्वनि की अमृत वर्षा हुई। ऐसी यह तीर्थ भूमि है।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के गर्भ-जन्म-तप और ज्ञान—यह चार कल्याणक यहाँ हुए हैं तथा

वासुपूज्य भगवान के अतिरिक्त २३ तीर्थंकरों के समवशरण यहाँ आये हैं; इसलिये यह भूमि पावन तीर्थ है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मध्यान में अनुरक्त संतों के चरणों से पावन भूमि, वह तीर्थ है और वह अनेक जीवों का उद्धार करनेवाली है। भूमि तो भूमि है; किंतु जिस भूमि में आत्मा के ज्ञानानन्द को प्राप्त जीवों ने विचरण किया, उस भूमि को देखने से आत्मा के ज्ञान-आनन्द का स्मरण होता है कि अहो! आत्मा के अतीन्द्रियज्ञान-आनन्द को प्राप्त सर्वज्ञ तथा संत यहाँ—इस भूमि में विचरे हैं। इस प्रकार भूमि भी पार होने का निमित्त होने से वह तीर्थ है। भावतीर्थ तो आत्मा का ज्ञान-ध्यान है, किंतु ज्ञान-ध्यानवाले संत जहाँ विचरे, वह भूमि भी तीर्थ है; जिसकाल उन्होंने विचरण किया, वह काल भी मंगल है।—ऐसी तीर्थभूमि को देखते हुए आत्मा के ज्ञान-आनन्द को लक्ष में लेकर जो जीव उस ज्ञानानंदस्वभाव की ओर ढलता है, वह भव से पार हो जाता है। इसप्रकार जो जीव भावतीर्थ द्वारा पार होता है, उसे पार होने में यह क्षेत्र भी निमित्त है, इसलिये यह भी तीर्थक्षेत्र है।

यह राजगृही आदि पवित्र तीर्थ हैं—ऐसा कौन कह सकता है?—कि जिसे इस भूमि में विचरनेवाले ज्ञानानन्द धारी संतों के ज्ञान-आनन्द का लक्ष हो और उसका श्रवण करे, वह ऐसा कहता है कि अहो! ज्ञान-आनन्द का यह तीर्थ है। इस भूमि में शासन का प्रवर्तन हुआ है। अपने आत्मा में सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीर्थ का प्रवर्तन हुआ, वह अपना जैनशासन है। यहाँ भगवान के समवशरण में अनेक जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीर्थ को प्राप्त हुए हैं। श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन यहाँ भगवान के समवशरण में चार तीर्थों की स्थापना हुई;—इसप्रकार यह भगवान के शासन-प्रवर्तन की भूमिका है; इसलिये यह तीर्थ है।

तीर्थ अर्थात् जिससे तरा जा सके। यहाँ भूमि को तीर्थ कहा, किन्तु भूमि तो भूमि ही है; उसमें कहीं तरने का भाव नहीं है। किंतु जहाँ तरने के भाववाले (सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रधारी) संतों ने विचरण किया, वहाँ उस भावतीर्थ का आरोप करके भूमि को भी तीर्थ कहा। अहो! आत्मा के ज्ञान-ध्यान में लीन संत जिस भूमि में विचरे, वह भूमि जगत में तीर्थ है। उन संतों के चरणों से जो धूल स्पर्शित हुई, वह धूल भी तीर्थ है। जिसे आत्मा के ज्ञान-ध्यान का प्रेम है, वह ज्ञान-ध्यान का स्मरण करके उस उस भूमि का भी बहुमान करता है कि अहो! ज्ञान-ध्यान धारक वीतरागी संत यहाँ विचरते थे....

जिसे ज्ञान-ध्यान का प्रेम नहीं है और राग की रुचि है, वह वीतरागी संतों का अथवा उनकी

भूमि का सच्चा आदर नहीं कर सकेगा। ज्ञानी-धर्मात्मा को तो ऐसी तीर्थभूमि देखकर आत्मा के ज्ञान-आनन्द का स्मरण होता है। इसप्रकार यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावतीर्थ के साथ की संधिपूर्वक तीर्थयात्रा की बात है।

जिसे आत्मा के ज्ञानानन्द का भान हो, उसे उसका स्मरण होता है। किन्तु ''मैं पूर्वकाल में सिद्ध हो गया था''—ऐसा स्मरण किसी को नहीं होता; क्योंकि पूर्वकाल में सिद्धदशा नहीं हुई है; इसलिये उसका स्मरण नहीं हो सकता। उसीप्रकार ऐसे तीर्थधाम को देखकर आत्मा के ज्ञान-आनन्द का स्मरण होता है; लेकिन किसे ? तो कहते हैं कि जिसे अंतर में आत्मा के ज्ञान-आनन्द का लक्ष हुआ है, उसे उसका स्मरण होता है और उसमें निमित्तरूप होने से यह भूमि भी तीर्थ है।—इसप्रकार उपादान-निमित्त की संधि है। अकेली भूमि का ज्ञान तो एकान्त पर प्रकाशक है, उसमें अधिक से अधिक शुभभाव हो सकता है किंतु वह कहीं तरने का कारण नहीं है। तरने का कारण तो सम्यग्ज्ञान है। आत्मा के ज्ञान-आनन्द का भान एवं स्मरण, वह स्वप्रकाशक है और उसमें निमित्तरूप यह राजगृही आदि तीर्थक्षेत्रों का ज्ञान, वह पर प्रकाशक है।—ऐसा स्व-पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान हुआ, वह तीर्थ है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावतीर्थ धारक संत जहाँ-जहाँ विचरे, वह क्षेत्र भी जगत में तीर्थ है। इसलिये यहाँ (तत्त्वज्ञान तरंगिणी में) कहा है कि—

तीर्थतां भूः पदेः स्पृष्टा नाम्ना योऽघचयः क्षयं।
सुरौधौ यांति दासत्वं शुद्धचिद्रक्तचेतसां॥२२॥

जो महात्मा संत शुद्धचिद्रूप के धारक हैं और उसके ध्यान में अनुरक्त हैं, उनके चरणों से स्पर्शित भूमि भी जगत में अनेक जीवों को संसार से तारनेवाली ''तीर्थ'' बन जाती है और उसके नाम श्रवण से समस्त पापों का नाश हो जाता है तथा अनेक देव उसके दास बन जाते हैं।

विपुलाचल धाम में—

वीरशासन-प्रवर्तन

अनेक पावन तीर्थ धामों में सुशोभित मगध देश की राजगृही नगरी में विपुलाचल पर्वत पर अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का समवशरण शोभित हो रहा है... वैशाख शुक्ला दसवीं के दिन भगवान को केवलज्ञान हो गया है और बारह सभा में भव्य जीवों की टोलियाँ भगवान की दिव्य देशना पान करने के लिये चातक की भाँति तरस रही हैं.... कि कब भगवान की दिव्य वाणी खिरे और कब हम उस दिव्यवाणी का श्रवण करके पावन हों...

...किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि अभी नहीं खिरती। दिनों पर दिन बीत रहे हैं... दिव्यध्वनि का श्रवण करने के लिये तरसते हुए जीव भगवान की परम उपशांत वीरतागी मुद्रा को निरख-निरख कर दिन बिता रहे हैं....

छियासठ दिन बीत गये हैं... अब तो अषाढ़ मास पूर्ण हो गया है और श्रावण कृष्ण प्रतिपदा का दिन आया... सदैव के प्रभात की अपेक्षा आज का प्रभात कुछ अनोखा था... आज के सुप्रभात में गौतम स्वामी, वीर प्रभु के समवशरण में पधारे... भगवान के दिव्य वैभव को देखते ही उनका अभिमान गल गया... और वे भगवान के चरणों में झुक गये... इधर भगवान के सर्वांग से दिव्यध्वनि का प्रवाह निकला... तीर्थंकर भगवान की अमोघ देशना प्रारम्भ हुई।

अहो! कितनी मधुर वह दिव्य देशना! और उसका श्रवण करनेवाले भव्य जीवों के हर्ष का क्या कहना! भव्य जीवों ने श्रुतज्ञानरूपी अंजलि भर-भरकर भगवान के श्रीमुख से झरते हुए उस आनन्दामृत का पान किया... और अनेक सुपात्र जीव तत्कालबोधक देशना झेलकर रत्नत्रय से पावन हुए। गौतम स्वामी ने गणधर पद प्राप्त किया और दिव्यध्वनि से झेले हुए रहस्य की बारह अंगरूप से रचना की....

अहा! उस धन्य दिवस को वीर प्रभु की वाणी सुननेवाले भव्य जीवों के आनन्दोल्लास की क्या बात!

वीर प्रभु के श्रीमुख से बही हुई उस स्याद्वाद-गंगा का पवित्र प्रवाह अछिन्नधारारूप से बहुता हुआ आज भी अनेक मुमुक्षु जीवों को पावन कर रहा है... गत श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन वीर शासन प्रवर्तन के पच्चीस सौ तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होकर पच्चीस सौ चौदहवां वर्ष प्रारम्भ हुआ। वीर शासन जयंती का वह मंगल-महोत्सव आज भी भारत के मुमुक्षु उल्लासपूर्वक मनाते हैं।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक'
पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर-वैराग्यप्रेरक
प्रवचनों का सार

आत्मा का यथार्थ स्वरूप जाने बिना देहादि को अपना मानकर जीव अनादिकाल से दु:खी हो रहा है; उसे दु:ख कहो या असमाधि कहो; वह दूर होकर सुख अथवा समाधि कैसे हो – उसकी यह बात है।

देखो, भाई! दु:ख तो किसे प्रिय है!! जगत् में किसी को दु:ख प्यारा नहीं है। ज्ञानियों को जगत के दु:खी प्राणियों पर करुणाबुद्धि वर्तती है। स्वयं जिस दु:ख से छूटना चाहते हैं, वह दु:ख दूसरे प्राप्त करें—ऐसी भावना ज्ञानी को क्यों होगी? ज्ञानी को तो ऐसी सहज करुणा आती है कि अरे रे! यह जीव बेचारे अपने स्वरूप को भूलकर, अज्ञान के कारण महान दु:ख में डूबे हैं, उससे छूटने के उपाय की भी उन्हें खबर नहीं है! मैं जिस परिपूर्ण सुख को प्राप्त करना चाहता हूँ, वह सुख अन्य जीव भी प्राप्त करें—ऐसी ज्ञानी को तो अनुमोदना है। उपदेश में तो ज्ञानी धर्मात्मा या वीतरागी संत-मुनि भी ऐसा कहते हैं कि "जो जीव, धर्म का तीव्र विरोध करेंगे और तीव्र पापभाव करेंगे, वे जीव, मिथ्यात्व के सेवन से नरक-निगोद में भटकेंगे और अनंत दु:ख प्राप्त करेंगे"—ऐसा कहने में ज्ञानी-संतों को कहीं किसी व्यक्ति के प्रति द्वेषबुद्धि नहीं है, तथा उन्हें कहीं किसी जीव को नरक-निगोद में भेजने की भावना नहीं है; किन्तु उलटी करुणाबुद्धि है—हितबुद्धि है, इसलिये यथार्थ वस्तुस्थिति बतलाकर जीवों को मिथ्यात्व से छुड़ाना चाहते हैं। हे भाई! मिथ्यात्व का ऐसा कठिन फल है—ऐसा जानकर तू उस मिथ्यात्व का सेवन छोड़ दे, और आत्मा का स्वरूप समझ, जिससे तेरा हित हो! इसप्रकार हित के लिये ही ज्ञानी का उपदेश है... किन्तु क्या हो!! अरे रे! यह काल! जीव हित की बात सुनते हुए भी उलटा विरोध करते हैं! क्या किया जाये! किसी के भावों को कोई बदल सकता है!! संसार तो इसी तरह चलता ही रहता है। जो जीव सत्य समझें, उनकी बलिहारी है... उसके

संसार का एक-दो भव में अन्त आ जायेगा। यों तो संसार चलता ही रहता है... और उसमें भटकने योग्य परिणामोंवाले जीव भी रहने ही वाले हैं... संसार के समस्त जीव, सत्य को समझकर मोक्ष प्राप्त कर लें—ऐसा कभी नहीं होगा; इसलिये यह तो स्वयं सत्य समझकर अपना हित साध लेने जैसा है। अज्ञानी पुकार करते हों तो करें... किन्तु उससे कहीं वस्तु का स्वरूप तो बदल नहीं जायेगा। जो वस्तुस्वरूप को न समझकर विरोध करते हैं, उन पर ज्ञानी को करुणा आती है।

देखो, कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे महान वीतरागी संत अष्टप्राभृत में कहते हैं कि—वस्त्र का एक ताना भी रखकर अपने को मुनिपना मनाये तो वह जीव, निगोद में जाता है। ऐसा कहने में आचार्य भगवान की कहीं ऐसी भावना नहीं है कि मेरा विरोध करता है, इसलिये उसे निगोद में भेज दूँ, परन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला जीव अपने विपरीत परिणाम के कारण निगोद में जाता है... ऐसा बतलाकर आचार्यदेव करुणाबुद्धि से जीवों को मिथ्यात्व से छुड़ाना चाहते हैं... अरे जीव! मुनिदशा का यथार्थस्वरूप पहिचान और सच्ची श्रद्धा कर, ताकि तेरा आत्मा इस संसार के दुःखों से छूटकर मोक्षसुख प्राप्त करे।

श्रीमद् राजचन्द्रजी भी करुणापूर्वक 'आत्मसिद्धि' में कहते हैं कि —

''कोई क्रिया जड़ थई रह्या, शुष्क ज्ञानमां कोई,
माने मारग मोक्षनों, करुणा उपजे जोई॥''

कोई अज्ञानी जीव तो शरीरादि जड़ की क्रिया में ही धर्म मानकर 'क्रिया जड़' हो रहे हैं, और दूसरे कोई अज्ञानी, शुष्कज्ञान में अर्थात् वस्तुस्वरूप समझे बिना मात्र ज्ञान की बातें करने में ही मोक्षमार्ग मान रहे हैं, किन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग को नहीं पहिचानते; ऐसे जीवों को देखकर करुणा आती है।

देखो, यह ज्ञानियों की करुणा! विपरीत श्रद्धा के फल में कैसा अपार दुःख है, उसे ज्ञानी जानते हैं; इसलिये जीवों को विपरीत श्रद्धा के अनंत दुःख से बचाने के लिये वे निडरतापूर्वक उस विपरीतश्रद्धा का निषेध करते हैं। शरीर की क्रिया से या राग से धर्म होता है—ऐसी मिथ्याश्रद्धा का फल घोर संसार है, इसलिये जो दुःख से छूटना चाहते हों, उन्हें ऐसी मिथ्या मान्यता छोड़कर आत्मा का रागरहित; देह से भिन्न यथार्थ ज्ञानानन्दस्वरूप समझना चाहिये।—ऐसा ज्ञानियों का उपदेश है।

❀❀❀

आत्मा तीन प्रकार के हैं। यद्यपि शक्तिरूप स्वभाव से तो सर्व आत्मा समान हैं किन्तु अवस्थाभेद से तीन प्रकार होते हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा, और परमात्मा।

चैतन्यानन्द से च्युत होकर जो बाह्य विषयों में आनन्द मानता है, वह बहिरात्मा है; बाह्य विषयों से रहित अंतर में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द को जानकर जो उसकी साधना करता है, वह अंतरात्मा है; और जिन्हें आत्मा का परिपूर्ण आनन्द प्रगट हो गया है, वे परमात्मा हैं। वे परमात्मा, परिपूर्ण ज्ञानसहित हैं, अनादि-अनंत काल को अपने दिव्यज्ञान में ज्यों का त्यों प्रत्यक्ष जानते हैं। जिसका कहीं अन्त नहीं है—ऐसे अनंत अलोकाकाश को भी प्रत्यक्षरूप से परिपूर्ण जानते हैं। ऐसी ही दिव्यज्ञान का कोई अचिन्त्य सामर्थ्य है। ज्ञान में अनादि-अनंत काल को अथवा अनंत आकाश को प्रत्यक्ष जान लिया; इसलिये ज्ञान में उसका अन्त आ गया—ऐसा नहीं है; यदि अन्त आ जाये तो अनादि-अनंतपना कहाँ रहा ? इसलिये ज्ञान ने तो अनादि-अनंत को अनादि-अनंतरूप ही ज्यों का त्यों जाना है।—इस ज्ञान की कोई अचिन्त्य महिमा है। अज्ञानी को अनादि-अनंत काल की महानता भासित होती है किन्तु ज्ञान-सामर्थ्य में उसकी अपेक्षा अनंतगुनी महानता है, वह उसे भासित नहीं होती, और ज्ञानस्वभाव की महिमा प्रतीति में आये बिना इस बात का किसी प्रकार समाधान नहीं हो सकता है। काल की अनादि-अनंतता उसे विशाल मालूम होती है किन्तु ज्ञान का अनंत सामर्थ्य उसे महान भासित नहीं होता; इसलिये ''अनादि-अनंत को ज्ञान किस प्रकार जान सकता है ?'' ऐसी उसे शंका होती है, उसमें वास्तव में तो ज्ञान-सामर्थ्य की ही शंका है। काल की अनादि-अनंतता की अपेक्षा ज्ञान-सामर्थ्य विशाल है, ऐसा यदि विश्वास हो, तभी उसे ख्याल में आ सकता है कि अनादि-अनंत का ज्ञान किस प्रकार होता है। अहा! अचिन्त्य ज्ञानसामर्थ्य में अनादि-अनंत काल तो कहीं समा जाता है, और काल की अपेक्षा अनंतगुने आकाश का भी उसमें परिपूर्ण ज्ञान हो जाता है। ऐसा ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द जिन्हें परिपूर्ण प्रगट हो गये हैं—ऐसे परमात्मा को केवली कहो, शुद्ध कहो, जिन कहो, ईश्वर कहो, बुद्ध कहो, महावीर कहो, सीमंधर कहो, 'समयसार' कहो—इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है।

वे परमात्मा क्षुधा, तृषा, रोगादि दोषों से रहित हैं; इसलिये उन्हें 'निर्दोष' भी कहा जाता है। भगवान को परिपूर्ण ज्ञानप्रकाश प्रगट हो गया है; इसलिये उन्हें 'परमज्योति' अथवा 'चैतन्यसूर्य' भी कहा जाता है। और भगवान को 'शास्ता' अर्थात् 'शासक' (शासन कर्ता) भी कहा जाता है, क्योंकि भगवान मोक्षमार्गरूप उत्कृष्ट शासन के नायक हैं। शासन अर्थात् उपदेश—शिक्षा; मोक्षमार्ग का उत्कृष्ट उपदेशदाता होने से भगवान शासक हैं। और मोक्षमार्ग का विधान (प्रतिपादन) कर्ता होने से भगवान को 'विधाता' भी कहते हैं। ''हो मोक्षमार्ग विधि धारण से

धाता''—ऐसा भक्तामर स्तुति में भी कहा है। कोई विधाता आकर लेख लिख जाते है—यह बात तो मिथ्या है; ऐसा कोई विधाता इस जगत में नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में कब क्या हुआ—क्या होता है और क्या होगा ?—यह सब लिखा गया है—ज्ञात हो गया है; इसलिये वे ही विधाता हैं। स्वयं मोक्षमार्ग की विधि (अर्थात् सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) को धारण करके मोक्ष को प्राप्त हुए और अन्य जीवों को भी वह मुक्तिमार्ग का विधान किया, इसलिये हे परमात्मा! आप ही हमारे विधाता हैं।

इसप्रकार सर्वज्ञता और परिपूर्ण आनन्द को प्राप्त परमात्मा का स्वरूप पहिचानकर, उनके भिन्न-भिन्न अनेक गुणों की अपेक्षा से उन्हें भिन्न-भिन्न अनेक नामों से कहा जाता है। यह मुख्य ध्यान रखना चाहिये कि जो परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द को प्राप्त हों, ऐसे परमात्मा की ही यह बात है। जगत् में मिथ्यादृष्टि जीव परमात्मा का स्वरूप अनेक प्रकार से विपरीतरूप से मान रहे हैं, वे सब सच्चे हैं—ऐसा नहीं समझना चाहिये।

जो बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा का यथार्थ स्वरूप पहिचानता है, वह तो बहिरात्मपना छोड़कर, परमात्मपने का साधक हो जाता है अर्थात् अंतरात्मा हो जाता है; उसे शरीरादि में आत्मबुद्धि नहीं होती है ॥६॥

अब, आचार्यदेव, बहिरात्मपना छुड़ाने के लिये, उसका स्वरूप स्पष्टरूप से समझाते हैं; उसमें प्रथम यह बतलाते हैं कि बहिरात्मा को देह में ही आत्मबुद्धि क्यों हो गई है ?—

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखाः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

बहिरात्मा, अपने आत्मज्ञान से पराङ्मुख वर्तता हुआ, इन्द्रियों द्वारा शरीरादि बाह्य पदार्थों को ही जानने में तत्पर है, आत्मा को तो वह देखता ही नहीं है, इसलिये वह शरीर को ही आत्मरूप मान लेता है; उसे देहाध्यास हो गया है; इसलिये उसे अपना देह से पृथक्त्व भासित नहीं होता। ज्ञान को इधर बाह्य में ही लगाता है किन्तु अंतरोन्मुख नहीं करता। बाह्य में इन्द्रियों के अवलम्बन से तो जड़ दिखाई देता है, कहीं आत्मा दिखाई नहीं देता; इसलिये उस बहिरात्मा को शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व भासित नहीं होता। वह तो शरीर को ही आत्मा मानता है। आहा! कैसी भ्रमणा! कि अपना अस्तित्व ही स्वयं भूल गया है! और जड़ में ही अपना अस्तित्व मान लिया है!—उसे समाधि कहाँ से हो सकती है ?

ज्ञानी का अंतर्परिणमन

[समयसार गाथा २१४ के प्रवचन से]

(ज्येष्ठ शुक्ला १४, वीर सं० २४८३)

आत्मा में जो राग-द्वेषादि परिणाम हैं, उनका बहिर्मुखपना है; और आत्मा का अन्तर्मुख स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है। धर्मी को अपने अन्तर्मुख स्वभाव की दृष्टि के परिणमन में रागादि के साथ एकता नहीं है, उसे अपने ज्ञान-आनन्दस्वभाव में ही एकता है। धर्मी को ज्ञान-आनन्द -स्वभाव का ही अवलम्बन वर्तता है, इसके अतिरिक्त परद्रव्य और परभावों में वह निरालम्बन है; उसकी दृष्टि में से परभावों का अवलम्बन छूट गया है; इसलिये वह निरालम्बन है और अन्तर में ज्ञायकभाव का ही अवलम्बन लेकर वह निश्चल ज्ञायकभावरूप ही रहता है। पर्याय में अल्प रागादि होते हैं किन्तु धर्मी उस राग के साथ अपने उपयोग की एकता नहीं करता; उपयोग की एकता चैतन्यभूमि में ही करता है। उसके अभिप्राय में स्वभाव और विभाव की भिन्नता ही वर्तती है; इसलिये धर्मात्मा को ज्ञायकभाव के साथ ही एकता के परिणमन में रागादि भावों की निर्जरा ही होती जाती है तथा शुद्धता में वृद्धि होती है; उसका नाम धर्म है।

अंतर में ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से स्थिर रहने पर आहारादि की वृत्ति ही छूट जाये, उसका नाम उपवासादि तप है। ऐसा तप, आनन्द एवं शांतिदायक है; किन्तु अज्ञानी को तप में कष्ट लगता है; ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन की उसे खबर नहीं। छहढाला में कहते हैं कि—

''आतम हित-हेतु विराग ज्ञान,
ते लखें आपको कष्ट दान॥''

जो ज्ञान-वैराग्य आत्महित के कारण हैं, उन्हें अज्ञानी कष्टरूप मानता है; और रागादिभाव प्रगटतया दु:खरूप होने पर भी अज्ञानी उनमें सुख मानकर उनका सेवन करता है। इसलिये वह अज्ञानी बाह्य पदार्थों का अवलम्बन छोड़कर अंतर सवभाव का अवलम्बन नहीं करता।

धर्मी क्या करते हैं? सर्वत्र बाह्य अवलम्बन छोड़कर अंतर के ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करके निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं। और ज्ञायकभाव के अवलम्बन में लीन रहकर चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग पर राग-द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती, उसका

नाम परीषहजय है। ज्ञानानन्दस्वभाव ही आत्मा का इष्ट है और विभाव अनिष्ट है। सर्वज्ञ भगवान ने इष्ट की प्राप्ति की है और अनिष्ट का नाश किया है। परद्रव्य कहीं आत्मा को इष्ट या अनिष्ट नहीं है।

देखो, यह अमृतचन्द्राचार्य के अमृत का मंथन हो रहा है! ज्ञायकस्वभाव अमृत पिण्ड है; उसमें अन्तरोन्मुख होकर उसके साथ एकता करके धर्मी जीव एक ज्ञायकभावरूप ही रहता है। भिन्न-भिन्न पर्यायें होती हैं, तथापि ज्ञायकस्वभाव के साथ ही एकता नहीं टूटती; इसलिये वह 'एक ज्ञायकभाव' रूप ही रहता है, ऐसा कहा।

देखो भाई! आनन्द और शांति तो आत्मवस्तु में है। आनन्द और शान्ति जहाँ हो, वहीं से आते हैं या और कहीं से? आनन्द और शान्ति अन्तर में हैं, उसमें अंतर्मुख होने से ही आनन्द और शांति का अनुभव होता है, बाह्य में किसी के अवलम्बन से आनन्द या शांति का वेदन नहीं होता। अंतर में भाव-भासन होकर स्वभाव का स्वीकार होना चाहिये। अनादि से बहिर्मुखरूप से प्रतिक्षण रागादि परभावों को पकड़ रखा है; उन्हें छोड़कर पर्याय को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञायकस्वभाव को स्वीकार किया, वहाँ स्वभाव के ज्ञान-आनन्द का वेदन हुआ। बहिर्मुखपने में अशांति और आकुलता का वेदन था। अंतर्मुख हुआ, वहाँ धर्मात्मा को अपने ज्ञायकभाव के अतिरिक्त अन्य किन्हीं परभावों की पकड़ नहीं है; इसलिये उसे किन्हीं भी परभावों का परिग्रह नहीं है; वह एक ज्ञायकभावपने के कारण तथा सर्व परभावों की पकड़ टूट जाने के कारण अत्यन्त निस्परिग्रही है। इसप्रकार अंतर में ज्ञायकभाव की पकड़ हुई है, वहाँ समस्त बाह्य परभावों की पकड़ छूट गई है; इसप्रकार ज्ञानी को परभावों का किंचित् भी परिग्रह न होने से उसे निर्जरा ही है। जिसे ज्ञायकभाव की पकड़ नहीं है और रागादि परभावों की पकड़ है, वह अज्ञानी है और उसी को बंधन होता है।

ज्ञानी धर्मात्मा को अंतर में ज्ञायकभाव के साथ की एकता में राग का वियोग है। अभी राग वर्त रहा है, तथापि उस राग के क्षण भी धर्मी को ज्ञायकस्वभाव में ही एकता है और राग में एकता नहीं है; इसलिये उसे राग का वियोग है और राग का वियोग होने से परद्रव्य का संयोग उसे बंध का कारण नहीं होता; उसे निर्जरा ही होती है। ज्ञानी की दृष्टि का सम्बन्ध आत्मा के साथ हो गया है और पर से टूट गया है, इसलिये ज्ञानी को परद्रव्य का परिग्रह नहीं है और परिग्रह न होने से उसे बंधन भी नहीं होता, इसलिये उसे निर्जरा ही होती है। अज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है, और रागादि के तथा पर के साथ एकता मानकर उसका परिग्रह करता है; उसका वह पर के साथ का ममत्वभाव ही बंध का कारण है।

भाई! तेरा हित कैसे हो—उसी की यह बात है; इसे तू एक बार लक्ष में ले। अंतर में तेरी वस्तु क्या है—उसे पहिचाने बिना बाह्य से हित नहीं आ सकता। तेरे हित का धाम तो तेरे आत्मा में है। मेरा आत्मा ही हित का भंडार है, अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के आश्रय से मेरा हित नहीं है—ऐसा दृढ़ निर्णय तो कर। यदि ऐसा यथार्थ निर्णय होगा तो परिणति का वेग अन्तरोन्मुख होगा और अन्तर्मुख वृत्ति से ही अपूर्व हित की प्राप्ति होगी। अनंतानंत काल की बहिर्मुख वृत्ति से जो हित प्राप्त नहीं हुआ, उस अपूर्व हित की प्राप्ति अन्तर्मुखवृत्ति द्वारा क्षणमात्र में हो जायेगी। संतो ने अन्तर्मुख शोध कर-करके ही अपने परमहित की साधना की है, और उन्होंने अंतर्मुख होने का ही उपदेश दिया है। यह अंतर्मुख होने का उपदेश ही हितोपदेश है; इसके अतिरिक्त जो बहिर्मुखता से लाभ होना कहता हो, वह हितोपदेश नहीं किन्तु मिथ्या उपदेश है—ऐसा समझना।

धर्मी को कैसी अन्तर परिणति से निर्जरा होती है—उसकी यह बात है। निर्जरा अर्थात् प्रतिक्षण शुद्धि की वृद्धि, अशुद्धता का नाश और कर्मों का खिर जाना। 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ', अंतर में ऐसी ज्ञानस्वभाव की पकड़ के कारण प्रतिक्षण शुद्धता होती जाती है। राग होने पर भी एक क्षण भी ज्ञानस्वभाव की अधिकता छूटकर धर्मी को राग की अधिकता नहीं होती; इसलिये धर्मी को बन्धन नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती जाती है।

धर्मी जानता है कि मैं तो एक ज्ञानभाव ही हूँ, ज्ञान से भिन्न कुछ भी मेरा नहीं है; पर के कार्य मेरे नहीं हैं। ऐसे सम्यक्ज्ञानवंत धर्मी, राग से अलिप्त रहने के स्वभाववाले हैं। जिस प्रकार कमल पानी में रहने पर भी उस पानी से अलिप्त रहने के स्वभाववाला है; उसी प्रकार ज्ञानी, राग से अलिप्त रहने के स्वभाववाला है; राग से ज्ञान लिप्त नहीं हो जाता; किंतु वह राग के त्यागरूप स्वभाव से ही वर्तता है। इसप्रकार ज्ञानी को भेदज्ञान के बल से सहज वैराग्य होता है और ऐसे ज्ञान-वैराग्य के बल से उसे निरन्तर निर्जरा ही होती है।

ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमाँहि सहज वैरागी,
ज्ञानी मगन विषय सुख माँही, यह विपरीत संभवै नाहीं॥

देखो, यह ज्ञानी की दशा! पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि अहो! जिसके अंतर में भेदज्ञानरूप कला जागृत हुई है, वह इस जगत में सहज वैरागी है; ऐसे ज्ञान-वैराग्यवंत धर्मात्मा बाह्य विषयों में सुख मानकर उनमें मग्न हों—ऐसी विपरीतता कभी संभवित नहीं होती। ज्ञानी ज्ञानस्वभाव में मग्न है, राग या बाह्य विषय होने पर भी उनमें वह मग्न नहीं है, इसलिये ज्ञानी, कर्म

से लिप्त नहीं होते, उसे नये कर्मों का बंध नहीं होता किंतु पुराने कर्मों की निर्जरा होती जाती है। अज्ञानी को तो ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है, वह राग में तथा विषयों में ही लीनरूप वर्तता है; इसलिये वह कर्मों से बँधता है। ज्ञानी का स्वभाव सुवर्ण की भाँति कर्मपंक से अलिप्त रहने का है और अज्ञानी का स्वभाव लोहे की भाँति कर्मपंक से लिप्त होने का है।

अब कहते हैं कि—ज्ञानी ने अपने ज्ञानस्वभाव को राग से और पर से भिन्न जाना है, उसमें वह निःशंक है; इसलिये बाह्य संयोग को देखते हुए ''इससे मैं बँध जाऊँगा'' ऐसी शंका उसे नहीं होती; वह निःशंकतापूर्वक अपने ज्ञानभावरूप ही परिणमित होता है, और ज्ञानभाव का परिणमन तो बंध का कारण नहीं है, इसलिये धर्मी को बंधन नहीं होता।

जगत के किसी संयोग में ऐसी शक्ति नहीं है कि ज्ञानी के ज्ञानमयभाव को बदलकर अज्ञानरूप कर सके; इसलिय संयोग, वह बंध का कारण नहीं है; तथा ज्ञानी का ज्ञानमयभाव भी बंध का कारण नहीं है; इसलिये ज्ञानी को बंधन नहीं होता। कर्मफल के संयोग में स्थित होने पर भी उस संयोग को देखकर ज्ञानी को शंका नहीं होती कि यह मुझे बंध का कारण होगा... वह तो निःशंकरूप से अपने ज्ञानमयभाव में ही वर्तता है। अनुकूलता के ढेर हों या प्रतिकूलताओं का समूह हो, तथापि ज्ञानी का ज्ञान कभी अज्ञानरूप नहीं हो जाता। क्योंकि ज्ञानी अपने स्वभाव से ही ज्ञानभावरूप परिणमित होता है, कोई परवस्तु उसके स्वभाव को अन्यथा नहीं कर सकती। पर के कारण बंधन होता है—ऐसी शंका ज्ञानी को कभी नहीं होती। ऐसी ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके निःशंकरूप से ज्ञानभाव में परिणमित होना, वह निर्जरा का उपाय है और वही धर्म है।

अन्तर्मुख होकर आत्मा को ढूँढ़!

आत्मा की ज्ञानादि शक्तियाँ अन्तर्मुख होकर जहाँ परिपूर्ण सोलह कलारूप से विकसित हो गई, वहाँ फिर कभी वे मुँदती नहीं हैं। आत्मा में ही अपने स्वभाव का साधन होने की शक्ति है; इसके अतिरिक्त बाह्य शास्त्रों में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वे आत्मा का साधन बनें।

जिज्ञासु विचार करता है कि—अरे रे! पूर्वकाल में मैंने अनंतबार बड़े-बड़े व्याकरणशास्त्र पढ़े, महान शास्त्रों के व्याख्यान किये और सत्समागम द्वारा उनका श्रवण भी किया; किन्तु मैंने शुद्धचिद्रूप आत्मा को कभी नहीं जाना, इसलिये मेरा परिभ्रमण हुआ। मैंने बाह्य में आत्मा को ढूँढ़ा, किन्तु अन्तरोन्मुख होकर कभी अपने आत्मा को नहीं ढूँढ़ा! [—पूज्य गुरुदेव]

आत्म वात्सल्य

अहो ! जिसे आत्मा का हित करना हो, सच्चे सुख की आवश्यकता हो, उसे आत्मा का परम प्रेम करना चाहिये। श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि—

''जगत इष्ट नहिं आत्म से''

—इसलिये जो धर्मी है अथवा धर्म का सच्चा जिज्ञासु है, उसे जगत की अपेक्षा आत्मा प्रिय है, आत्मा की अपेक्षा जगत में कुछ भी उसे प्रिय नहीं है। आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भव्य !

''आमां सदा प्रीतिवंत बन, आमां सदा संतुष्ट ने,
अनाथी बन तुं तृप्त, तुजने सुख अहो! उत्तम थशे।''

धर्मात्मा को जगत में अपना रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही परम प्रिय है, संसार सम्बन्धी अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। जिसप्रकार गाय को अपने बछड़े के प्रति, और बालक को अपनी माता के प्रति कैसा प्रेम होता है ? उसीप्रकार धर्मी को अपने रत्नत्रयस्वभावरूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेद बुद्धि से परम वात्सल्य होता है। स्वयं को रत्नत्रय धर्म में परम वात्सल्य होने से अन्य जिन-जिन जीवों में रत्नत्रय धर्म को देखते हैं, उनके प्रति भी उन्हें वात्सल्य की ऊर्मि उठे बिना नहीं रहती।

जिज्ञासुओं के लिये स्वर्णावसर

आसोज सुद १५ तक के लिये कुछ ग्रन्थों के मूल्य में कमी

१- लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जिसमें तत्त्वज्ञान के सुगम शैली से प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं। मूल्य ०-१९ नये पैसे। एकसाथ २५ बुक में १२ ॥) टका के हिसाब से कमीशन देंगे और १०० बुक मंगाने पर २५) टका कमीशन देंगे।

२- श्री समयसार प्रवचन भाग-३ हिन्दी ४ ॥) वाला अर्ध मूल्य में

३- भेद विज्ञानसार २) वाला अर्ध मूल्य में

४- श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह-

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्राय: सब तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत आवश्यक जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना इत्यादि वर्णन होने से अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १-४५ पोस्टेजादि अलग। १० पुस्तक एक साथ लेने पर २५) प्रतिशत कमीशन और एक ग्रंथ में दस टका कमीशन देंगे। पोस्टेजादि अलग।

५- ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव-

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है। जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तु स्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज़ है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त।

३- अनेकान्त, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार। ४ - द्रव्य-पर्याय संबंधी अनेकान्त।

५- अनन्त पुरुषार्थ। ६. वस्तुविज्ञान अंक, जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजी द्वारा प्रवचनों का सार है। ७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो, इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है, उस पर खास प्रवचनों का सार—जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है। बढ़िया जिल्द सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४०० मूल्य २-५० नये पैसे। ५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

करीब एक मास में ही छपकर तैयार हो जावेगा। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, इस अध्याय तक छप चुका है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा–सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजन भूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० मूल्य लागत मात्र, ५) पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवाले को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

मंगानेवालों की संख्या बहुत होने से आगे से ग्राहक होनेवालों को प्रथम मिलेगा। ओर्डर शीघ्र भेज दीजियेगा। सुभीते के लिये मदनगंज से भी पुस्तक भेजी जावेगी।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।